नईदुनिया

संपादकीय

सफेद कोट में धरती के भगवान

धरती पर भगवान दिखता नहीं, पर सफेद कोट में रोज मिल जाता है। कभी मुस्कुराकर, कभी डांटकर, तो कभी सिर पर हाथ फेरकर। उसका धर्म है जीवन बचाना और हमारा धर्म है उसका सम्मान करना। जब तक उसके गले में स्टेथोस्कोप है, तब तक मौत की रफ्तार थमती रहती है और जिंदगी की लौ जलती रहती है। डॉक्टर्स डे पर हर उस मसीहा को नमन, जो अपनी नींद गिरवी रखकर हमारी सांसों की हिफाजत करता है।

डॉक्टर्स डे केवल कैलेंडर की एक तारीख नहीं, बल्कि उस जज्बे का उत्सव है जो मौत की दहलीज से जिंदगी वापस ले आता है। समाज डॉक्टर को धरती का भगवान इसलिए कहता है क्योंकि जब उम्मीद टूटने लगती है, तब वही नई आशा जगाता है। आधी रात का सन्नाटा हो, एंबुलेंस का सायरन गूंजे और स्ट्रेचर पर जिंदगी व मौत के बीच झूलता मरीज पहुंचे, तो डॉक्टर पल भर में फरिश्ता बन जाता है। दस्ताने चढ़ते हैं, मास्क कसता है और शुरू होती है सांसों की जंग। ऑपरेशन थियेटर में घंटों खड़े रहकर थकान भूल जाना कोई नौकरी नहीं, बल्कि इबादत है।

कोविड की काली रातों को कौन भूल सकता है, जब घरों के दरवाजे बंद थे और अस्पतालों के खुले। पीपीई किट में पसीने से भीगे डॉक्टर दिन-रात मरीजों के बीच डटे रहे। कई डॉक्टरों ने अपने परिवार से दूरी बनाई, कई अपनों के अंतिम संस्कार तक में शामिल नहीं हो सके। लौटे तो तालियां मिलीं, लेकिन उन्हें सम्मान के साथ सुरक्षा की भी जरूरत थी, ताकि किसी अगली महामारी में वे निडर होकर फिर सेवा कर सकें।

बड़े अस्पतालों की चमक से आगे बढ़कर उन प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को भी देखिए, जहां सीमित संसाधनों के बीच डॉक्टर सैकड़ों मरीजों का इलाज करते हैं। कहीं बारिश में फिसलते हुए टीकाकरण, कहीं बाढ़ में दवा वितरण और कहीं दूर-दराज गांवों तक पहुंचकर गर्भवती महिलाओं की जांच-इन सबका उद्देश्य केवल एक है, दर्द कम करना।

डॉक्टर केवल दवा नहीं देता, हौसला भी देता है। कैंसर से जूझते बच्चे को मुस्कान लौटाता है, डायलिसिस पर लेटे बुजुर्ग को जीने की उम्मीद देता है। यही भरोसा कई बार सबसे बड़ी दवा बन जाता है।

दुर्भाग्य यह है कि जिन्हें हम भगवान कहते हैं, उन्हीं पर हिंसा भी होती है। मरीज की मौत के बाद अस्पतालों में तोड़फोड़ और डॉक्टरों से मारपीट चिंता का विषय है। डॉक्टर भी इंसान हैं, मशीन नहीं। उन्हें सुरक्षित वातावरण, सम्मान और न्याय मिलना चाहिए, क्योंकि डरे हुए हाथ न सफल सर्जरी कर सकते हैं और न ही विश्वास जगा सकते हैं।

इस डॉक्टर्स डे पर उन सभी चिकित्सकों को श्रद्धापूर्वक नमन, जो हर दिन अपने कर्तव्य को सर्वोपरि रखते हैं। आइए, हम संकल्प लें कि अस्पताल को अखाड़ा नहीं, सेवा और विश्वास का मंदिर मानेंगे।

आजकल

वादे बड़े, भुगतान पर अड़ंगाः मध्यप्रदेश में बीमा भरोसा लड़खड़ाया

मध्यप्रदेश में बीमा अब संकट का कवच नहीं, बल्कि सवालों का पिटारा बनता जा रहा है। उपभोक्ता फोरम के ताजा आंकड़े इस हकीकत पर मुहर लगाते हैं। पूरे प्रदेश में दर्ज शिकायतों में 32 प्रतिशत मामले अकेले बीमा कंपनियों के खिलाफ हैं। ग्वालियर, इंदौर, भोपाल, जबलपुर सहित कई जिलों में बीमाधारक क्लेम रिजेक्शन, भुगतान में देरी और कैशलेस सुविधा से इनकार जैसी समस्याओं से जूझ रहे हैं।

उपभोक्ता फोरम में बीमा क्षेत्र शिकायतों में पहले स्थान पर है। दूसरे स्थान पर बिजली विभाग और तीसरे पर वित्त एवं निवेश क्षेत्र है। सहारा इंडिया जैसे मामलों में मैच्योरिटी के बाद भी भुगतान न मिलने की शिकायतें लगातार बढ़ रही हैं। यह स्थिति बताती है कि पॉलिसी बेचते समय किए गए वादे क्लेम के समय अक्सर दम तोड़ देते हैं।

जांच में सामने आया है कि कंपनियां छोटे क्लेम आसानी से मंजूर कर देती हैं, लेकिन बड़ी राशि के मामलों में पुरानी बीमारी, अधूरे दस्तावेज या नियमों का हवाला देकर भुगतान रोक दिया जाता है। कई बार भर्ती के समय कैशलेस सुविधा का आश्वासन दिया जाता है, लेकिन डिस्चार्ज के वक्त मरीज को पूरा बिल अपनी जेब से चुकाना पड़ता है और फिर उपभोक्ता फोरम का दरवाजा खटखटाना पड़ता है।

ग्वालियर, भोपाल, इंदौर और जबलपुर के अनेक मामलों में उपभोक्ता फोरम ने बीमा कंपनियों को भुगतान के आदेश दिए। लगभग हर मामले में एक जैसी प्रवृत्ति दिखी—पॉलिसी बेचते समय सहमति और क्लेम के समय असहमति। इसका सबसे अधिक असर मध्यम वर्ग, किसानों, छोटे व्यापारियों और नौकरीपेशा लोगों पर पड़ रहा है।

समस्या की जड़ एजेंटों द्वारा अधूरी जानकारी देना, अस्पतालों और थर्ड पार्टी एडमिनिस्ट्रेटर के बीच समन्वय की कमी तथा क्लेम निपटाने में अनावश्यक देरी है। हर क्लेम अस्वीकार करने पर सात दिन के भीतर कारण सहित आदेश देना अनिवार्य होना चाहिए। प्रत्येक जिले में बीमा मामलों के लिए फास्ट ट्रैक व्यवस्था बने और निर्धारित समय-सीमा में फैसले हों। राज्य सरकार और नियामक को शिकायतों की नियमित निगरानी कर पारदर्शिता सुनिश्चित करनी होगी। बीमा तभी सार्थक है, जब जरूरत के समय वह भरोसे के साथ खड़ा दिखाई दे।

समान नागरिक संहिता को मिल रहा जन समर्थन

71 प्रतिशत महिलाओं और 49 प्रतिशत मुस्लिमों का सामाजिक एकता और न्याय की दिशा में बड़ा कदम

देश में समान नागरिक संहिता यानी यूसीसी को लेकर चल रही बहस अब केवल राजनीतिक दलों और बुद्धिजीवियों तक सीमित नहीं रही है। अब आम जनता, विशेषकर महिलाएं और अल्पसंख्यक समुदाय भी इस मुद्दे पर खुलकर अपनी राय दे रहे हैं। हाल में कराए गए सर्वे और जनसुनवाई में सामने आया है कि यूसीसी को 71 प्रतिशत महिलाओं का समर्थन प्राप्त है, वहीं 49 प्रतिशत मुस्लिम समुदाय के लोगों ने भी इसके पक्ष में सहमति जताई है। यह आंकड़ा इस बात का प्रमाण है कि समाज अब व्यक्तिगत कानूनों से ऊपर उठकर समानता और न्याय के सिद्धांत को अपनाने के लिए तैयार है।

समान नागरिक संहिता का अर्थ है देश के सभी नागरिकों के लिए विवाह, तलाक, विरासत और गोद लेने जैसे निजी मामलों में एक समान कानून होना। आजादी के बाद से भारत में विभिन्न धर्मों के अपने-अपने व्यक्तिगत कानून चलते आ रहे हैं। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई और पारसी समुदाय के लिए अलग-अलग नियम हैं, जिसके कारण कई बार महिलाओं के अधिकार प्रभावित होते हैं। कई बार एक ही देश में एक ही मामले पर अलग-अलग समुदायों के लिए अलग निर्णय होते हैं। यूसीसी का उद्देश्य इसी भेद को समाप्त करके संविधान के अनुच्छेद 44 के अनुसार सभी नागरिकों को समान व्यवहार देना है।

महिलाओं के 71 प्रतिशत समर्थन का कारण भी स्पष्ट है। व्यक्तिगत कानूनों में आज भी कई ऐसी व्यवस्थाएं हैं जो महिलाओं के हित में नहीं हैं। मुस्लिम व्यक्तिगत कानून में तीन तलाक की प्रथा पहले महिलाओं के लिए अत्यंत कष्टकारी थी। हालांकि सरकार ने 2019 में इसे प्रतिबंधित कर दिया, लेकिन अब भी तलाक, भरण-पोषण और विरासत जैसे मुद्दों पर महिलाओं को समान अधिकार नहीं मिल पाते हैं। हिंदू कानून में भी संपत्ति के बंटवारे और गोद लेने के मामलों में असमानता देखी जाती है। यूसीसी लागू होने से महिलाओं को यह भरोसा मिलेगा कि धर्म और जाति से ऊपर उठकर उन्हें कानून की नजर में समान दर्जा प्राप्त होगा। इसलिए अधिकांश महिलाएं यूसीसी को सामाजिक न्याय का प्रभावी माध्यम मान रही हैं।

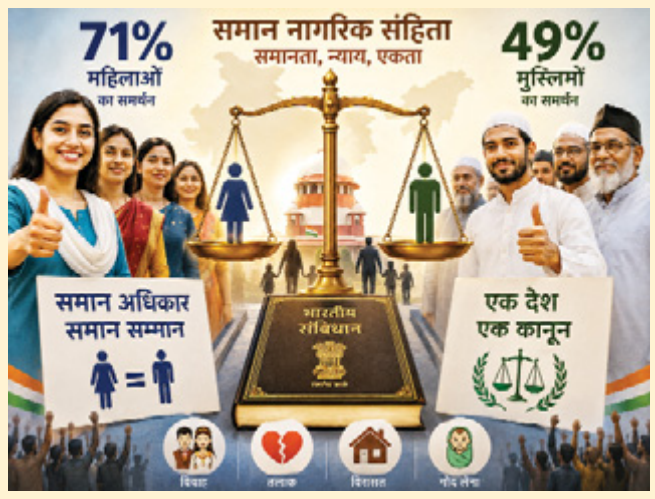

यूसीसी के विरोध में अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि इससे अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक पहचान समाप्त हो जाएगी। पर सच्चाई यह है कि समान नागरिक संहिता किसी की पूजा-पद्धति, त्योहार या खानपान में हस्तक्षेप नहीं करेगी। उसका दायरा केवल विवाह, तलाक और विरासत जैसे नागरिक मामलों तक सीमित रहेगा।

49 प्रतिशत मुस्लिमों के समर्थन को समझने के लिए समुदाय के भीतर हो रहे बदलाव को देखना होगा। शिक्षित और युवा मुस्लिम अब इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि शरीयत के नाम पर प्रचलित कई प्रथाएं कुरान की मूल भावना के विपरीत हैं। तीन तलाक के खात्मे के बाद मुस्लिम महिलाओं ने खुलकर यूसीसी के समर्थन में आवाज उठाई है। उनका तर्क है कि इस्लाम न्याय और समानता का धर्म है और यूसीसी उसी सिद्धांत को कानूनी रूप देगा। सर्वे में भाग लेने वाले मुस्लिम पुरुषों ने भी माना कि यदि कानून सभी के लिए समान होगा तो समाज में भेदभाव कम होगा और देश की एकता मजबूत होगी। यह सोच दर्शाती है कि समुदाय अब रूढ़ियों से निकलकर तर्क और समानता की ओर बढ़ रहा है।

यूसीसी के विरोध में अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि इससे अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक पहचान समाप्त हो जाएगी। पर सच्चाई यह है कि समान नागरिक संहिता किसी की पूजा-पद्धति, त्योहार या खानपान में हस्तक्षेप नहीं करेगी। उसका दायरा केवल विवाह, तलाक और विरासत जैसे नागरिक मामलों तक सीमित रहेगा। गोवा में पहले से ही यूसीसी लागू है और वहां सभी समुदाय वर्षों से शांति और सद्भाव के साथ रह रहे हैं। वहां हिंदू, मुस्लिम और ईसाई सभी एक ही कानून के तहत अपने निजी मामले सुलझाते हैं और किसी की धार्मिक स्वतंत्रता पर आंच नहीं आई है। गोवा का उदाहरण यह साबित करता है कि यूसीसी और सांस्कृतिक विविधता साथ-साथ चल सकते हैं।

समान नागरिक संहिता के समर्थन के पीछे संविधान की भावना भी एक बड़ी वजह है। संविधान निर्माताओं ने नीति-निर्देशक तत्वों में स्पष्ट लिखा था कि राज्य सभी नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता लागू करने का प्रयास करेगा। यह प्रावधान इसलिए रखा गया था क्योंकि वे जानते थे कि एक राष्ट्र तभी मजबूत होगा, जब उसके नागरिक कानून की नजर में बराबर होंगे। आज 75 वर्ष बाद, जब देश आर्थिक और सामाजिक रूप से आगे बढ़ रहा है, तब व्यक्तिगत कानूनों की विसंगतियां विकास में बाधा बन रही हैं। संपत्ति विवाद, तलाक के मुकदमे और महिलाओं के शोषण के मामले अदालतों में वर्षों तक लंबित रहते हैं। यूसीसी से कानूनी प्रक्रिया सरल होगी और न्याय जल्दी मिल सकेगा।

यूसीसी को लेकर समाज में जागरूकता बढ़ाना भी जरूरी है। कई लोगों को लगता है कि यह केवल एक समुदाय के खिलाफ है, जबकि वास्तविकता यह है कि यूसीसी से हर समुदाय की महिलाओं, बच्चों और कमजोर वर्गों को लाभ होगा। जब कानून समान होगा तो दहेज, बाल विवाह और बहुविवाह जैसी कुरीतियों पर रोक लगाना आसान होगा। जब विरासत का नियम सबके लिए एक होगा तो बेटियों को भी संपत्ति में बराबर का हिस्सा मिलेगा। जब तलाक की प्रक्रिया एक समान होगी तो पुरुष और महिला दोनों को न्याय मिलेगा। इसलिए यूसीसी को केवल कानून सुधार नहीं, बल्कि सामाजिक सुधार के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस जन समर्थन के बावजूद यूसीसी को लागू करने की प्रक्रिया सावधानी से करनी होगी। सरकार को सभी धर्मों के विद्वानों, महिलाओं और कानूनी विशेषज्ञों से चर्चा करके ऐसा प्रारूप तैयार करना चाहिए, जो संविधान की मूल भावना के अनुरूप हो और किसी की धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुंचाए। उत्तराखंड ने पहले ही यूसीसी का मसौदा तैयार कर लागू करने की पहल की है। अन्य राज्यों को भी उससे सीख लेनी चाहिए। जनसुनवाई और सुझावों के आधार पर कानून को अंतिम रूप दिया जाए, ताकि हर वर्ग को विश्वास हो कि यह कानून उसके हित में है।

71 प्रतिशत महिलाओं और 49 प्रतिशत मुस्लिमों का यूसीसी के पक्ष में आना इस बात का संकेत है कि भारत का समाज अब बदल रहा है। लोग धर्म और समुदाय की सीमाओं से ऊपर उठकर समानता और न्याय को प्राथमिकता दे रहे हैं। समान नागरिक संहिता कोई चुनावी मुद्दा नहीं, बल्कि राष्ट्र निर्माण का विषय है। जब देश के हर नागरिक को एक समान कानून मिलेगा, तब सामाजिक ताने-बाने में मजबूती आएगी और भारत सचमुच 'एक भारत, श्रेष्ठ भारत' के लक्ष्य के और करीब पहुंचेगा। क्योंकि कानून की समानता के बिना राष्ट्रीय एकता अधूरी है और जन समर्थन से यह स्पष्ट हो गया है कि अब समय आ गया है, जब हम संविधान के उस सपने को पूरा करें जो समानता पर आधारित है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

डिप्रेशन : 36 घंटे की ड्यूटी छीन रही मुस्कान

मरीजों की जान बचाने वाले डॉक्टरों की मानसिक सेहत पर संकट, समाज और सरकार को अब जगना होगा

मरीजों की जान बचाने वाले हाथ जब खुद कांपने लगें, तो समाज को सोचना पड़ेगा कि धरती के भगवान कहे जाने वाले डॉक्टर आखिर क्यों डिप्रेशन में हैं। हाल ही में फेडरेशन ऑफ ऑल इंडिया मेडिकल एसोसिएशन (फाइमा) के आरएमएस 2.0 सर्वे ने जो तस्वीर सामने रखी है, वह डराने वाली है। देश के 28 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों के 1,260 से अधिक रेजिडेंट डॉक्टरों पर हुए इस सर्वे में पता चला है कि कई डॉक्टर लगातार 36 घंटे से ज्यादा ड्यूटी कर रहे हैं और हर पांच में से एक डॉक्टर सप्ताह में 100 घंटे से ज्यादा काम कर रहा है। सबसे चिंताजनक बात यह है कि हर छठे डॉक्टर के मन में लगातार ड्यूटी से पैदा हो रहे तनाव के बीच आत्महत्या का ख्याल आता है।

यह आंकड़ा केवल डॉक्टरों की समस्या नहीं है, बल्कि मरीजों की सुरक्षा से भी जुड़ा गंभीर मुद्दा है। लगातार थकान, नींद की कमी और मानसिक तनाव से चिकित्सा संबंधी त्रुटियों का जोखिम बढ़ सकता है। जब डॉक्टर खुद शारीरिक और मानसिक दबाव में जीवन जी रहे हों, तो मरीज के इलाज पर इसका सीधा असर पड़ना तय है। एक थका हुआ और तनावग्रस्त डॉक्टर दवा की सही खुराक तय करने में, ऑपरेशन के दौरान एकाग्र रहने में या मरीज से सहानुभूतिपूर्वक बात करने में चूक सकता है और इस चूक की कीमत किसी की जान हो सकती है।

डॉक्टरों के डिप्रेशन में जाने की वजह भी साफ है। पहला कारण है अमानवीय ड्यूटी घंटे। मेडिकल कॉलेजों और सरकारी अस्पतालों में रेजिडेंट डॉक्टरों से 24 घंटे, 36 घंटे और कभी-कभी 48 घंटे तक लगातार काम लिया जाता है। ड्यूटी के बाद अनिवार्य पोस्ट-ड्यूटी रेस्ट का कोई प्रावधान नहीं है। युवा डॉक्टर पढ़ाई के साथ-साथ इमरजेंसी वार्ड और ओपीडी का बोझ उठाते हैं, पर उनके आराम के बारे में कोई नहीं सोचता। दूसरा कारण है मरीजों और उनके परिजनों का बढ़ता आक्रोश। इलाज में देरी होने पर या मरीज की मृत्यु होने पर डॉक्टरों पर हमले की घटनाएं आम हो गई हैं। गालियां, धक्का-मुक्की और कई बार जानलेवा हमले डॉक्टरों को मानसिक रूप से तोड़ देते हैं। तीसरा कारण है संसाधनों की कमी और प्रशासनिक दबाव। एक डॉक्टर पर सैकड़ों मरीजों का भार है। जांच की सुविधा नहीं है, दवाएं नहीं हैं, बेड नहीं हैं, पर जवाब डॉक्टर को देना पड़ता है। वरिष्ठों का दबाव, विभाग का दबाव और सिस्टम की खामियों का ठीकरा भी जूनियर डॉक्टर के सिर फूटता है। चौथा कारण है भविष्य की अनिश्चितता। बॉन्ड नीति, कम स्टाइपेंड और स्थायी नौकरी की गारंटी का अभाव युवा डॉक्टरों को निराश करता है। एमबीबीएस के बाद पीजी की तैयारी और फिर तीन वर्ष तक कड़ी रेजिडेंसी के बाद भी सम्मानजनक वेतन और सुरक्षित माहौल न मिले, तो कोई भी टूट जाएगा।

डॉक्टरों को डिप्रेशन से बाहर लाने के लिए समाज, सरकार और सामाजिक संगठनों को आगे आना चाहिए। जवाब है-हां, और तुरंत आना चाहिए, क्योंकि यह केवल डॉक्टरों को बचाने का मामला नहीं है, बल्कि पूरे स्वास्थ्य तंत्र को बचाने का प्रश्न है। फाइमा ने केंद्र और राज्य सरकारों से रेजिडेंट डॉक्टरों के ड्यूटी घंटों का राष्ट्रीय स्तर पर नियमन करने की मांग की है। संगठन का कहना है कि लंबी ड्यूटी के बाद अनिवार्य पोस्ट-ड्यूटी रेस्ट दिया जाए, डॉक्टरों की नई भर्ती कर काम का दबाव कम किया जाए, सभी मेडिकल कॉलेजों में मानसिक स्वास्थ्य सहायता केंद्र बनाए जाएं, पारदर्शी शिकायत निवारण प्रणाली हो, बॉन्ड नीति में सुधार किया जाए और सभी राज्यों में समान स्टाइपेंड दिया जाए।

डॉक्टर भी इंसान हैं, मशीन नहीं। विकसित देशों में रेजिडेंट डॉक्टरों के काम के घंटे तय हैं। अमेरिका में सप्ताह में 80 घंटे और यूरोप में 48 घंटे की सीमा है। लगातार 24 घंटे से ज्यादा ड्यूटी नहीं ली जा सकती। भारत में भी राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग को सख्त दिशा-निर्देश बनाकर लागू करने होंगे। अस्पतालों में ड्यूटी रोस्टर ऐसा हो कि हर डॉक्टर को सप्ताह में कम से कम एक दिन का अवकाश और हर ड्यूटी के बाद 12 घंटे का विश्राम मिले। रेजिडेंट डॉक्टरों के लिए हॉस्टल में रहने, खाने और मानसिक परामर्श की सुविधा निःशुल्क होनी चाहिए।समाज की भी जिम्मेदारी बनती है कि वह डॉक्टर को भगवान मानने के साथ-साथ इंसान भी समझे। मरीज की मौत पर डॉक्टर को पीटना बंद करना होगा, अस्पताल में तोड़फोड़ करना बंद करना होगा। याद रखिए कि डॉक्टर जान बचाने की कोशिश करता है, जान लेने की नहीं। यदि इलाज में कोई चूक लगती है, तो कानूनी रास्ता है, पर हिंसा समाधान नहीं है। मरीजों के परिजनों को धैर्य रखना होगा और डॉक्टरों से सम्मानपूर्वक बात करनी होगी। जब समाज डॉक्टर को सुरक्षा और सम्मान देगा, तो डॉक्टर भी बिना डर के बेहतर इलाज कर पाएगा।

सामाजिक संगठनों और गैर-सरकारी संस्थाओं को आगे आकर मेडिकल कॉलेजों में तनाव प्रबंधन कार्यशालाएं आयोजित करनी चाहिए। हेल्पलाइन शुरू करनी चाहिए, जहां डिप्रेशन से जूझ रहा डॉक्टर बिना झिझक बात कर सके। वरिष्ठ डॉक्टरों को मेंटर की भूमिका निभानी चाहिए, ताकि जूनियर डॉक्टर अकेला महसूस न करे। मेडिकल छात्रों के पाठ्यक्रम में योग, ध्यान और मानसिक स्वास्थ्य जैसे विषय जोड़े जाने चाहिए, ताकि वे शुरुआत से ही तनाव से निपटना सीखें। डॉक्टरों की सफलता की कहानियां भी सामने लानी होंगी। केवल लापरवाही की खबरें दिखाकर पूरे समुदाय को कटघरे में खड़ा करना उचित नहीं है। जब कोरोना काल में डॉक्टरों ने अपनी जान पर खेलकर मरीजों को बचाया था, तब पूरे देश ने ताली बजाई थी। वही सम्मान उन्हें आज भी मिलना चाहिए।

हमें यह मान लेना चाहिए कि स्वस्थ डॉक्टर ही स्वस्थ समाज दे सकता है। यदि आज हमने डॉक्टरों के डिप्रेशन को नजरअंदाज किया, तो कल अस्पतालों में इलाज करने वाला कोई नहीं बचेगा। नई पीढ़ी मेडिकल क्षेत्र में आने से डरेगी और गांवों तक डॉक्टर पहुंच ही नहीं पाएंगे। इसलिए सरकार तुरंत ड्यूटी घंटे तय करे, नई भर्ती करे और सुरक्षा कानून सख्ती से लागू करे। समाज डॉक्टरों को हिंसा से बचाए और सम्मान दे। सामाजिक संगठन डॉक्टरों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए सक्रिय होकर काम करें। धरती के भगवान को बचाना है, तो उन्हें इंसान समझना होगा। उनकी थकान, उनकी नींद, उनकी छुट्टी और उनकी मुस्कान वापस लानी होगी। क्योंकि एक हंसता हुआ डॉक्टर ही मरीज के चेहरे पर मुस्कान ला सकता है और जब डॉक्टर खुश होगा, तभी मरीज भी सुरक्षित होगा। यह जिम्मेदारी हम सबकी है और शुरुआत आज ही करनी होगी, वरना बहुत देर हो जाएगी।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

दो बूंद जिंदगी की या मौत की...

पोलियो ड्रॉप पर उठे सवालों के बीच विज्ञान और भरोसे की कसौटी

देश ने दशकों तक नारा सुना है- 'दो बूंद जिंदगी की।' लेकिन झाबुआ, विदिशा और कल्याणपुरा से आई खबरों ने इस नारे पर ही सवाल खड़े कर दिए हैं। परिजनों का आरोप है कि पोलियो की दवा पीने के कुछ ही घंटों बाद उनके बच्चों की मौत हो गई। अभी तक मौत की असल वजह पोस्टमार्टम रिपोर्ट से स्पष्ट नहीं हुई है, लेकिन गांवों में दहशत फैल गई है और स्वास्थ्य विभाग कटघरे में है।

झाबुआ जिले की कुरवाई तहसील के भेनखेड़ी गांव में 19 और 20 जून को 10 माह से लेकर 2 साल तक के चार बच्चों की मौत हो गई। परिजनों ने बताया कि बच्चों को पोलियो ड्रॉप पिलाने के बाद तबीयत बिगड़ी और कुछ घंटों में सांसें थम गईं। इसी तरह विदिशा जिले में 10 माह के अनिल अहिरवार और 2 साल की एक बच्ची की मौत भी पोलियो ड्रॉप के बाद बताई गई है। कल्याणपुरा में भी एक बच्ची की मौत हुई है। सभी मामलों में परिजन एक ही बात दोहरा रहे हैं कि बच्चा स्वस्थ था, दवा पीने के बाद उल्टी, दस्त और सुस्ती आई और फिर मौत हो गई।

स्वास्थ्य विभाग ने तत्काल सफाई दी है कि पोलियो ड्रॉप पूरी तरह सुरक्षित है और वर्षों से करोड़ों बच्चों को पिलाई जा रही है। विभाग का कहना है कि मौत की वजह पोस्टमार्टम के बाद ही साफ होगी। हो सकता है कि बच्चों को पहले से कोई बीमारी रही हो या दवा पिलाने के बाद कोई अन्य संक्रमण हुआ हो। सीएमएचओ और सिविल सर्जन ने जांच टीम गठित कर दी है और बैच नंबर की जांच भी शुरू हो गई है। विभाग यह भी कह रहा है कि अगर दवा में खराबी होती तो बड़े पैमाने पर मामले सामने आते, जबकि लाखों बच्चों को उसी बैच की दवा दी गई है।

ओरल पोलियो वैक्सीन (ओपीवी) दुनिया भर में सबसे ज्यादा इस्तेमाल होने वाला टीका है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार ओपीवी बेहद सुरक्षित है और इसके गंभीर दुष्प्रभाव न के बराबर हैं। लगभग एक लाख में से एक मामले में वैक्सीन एसोसिएटेड पैरालिटिक पोलियो हो सकता है, लेकिन मौत का सीधा संबंध अब तक साबित नहीं हुआ है। भारत में 2014 से पोलियो उन्मूलन हो चुका है और यह सफलता ओपीवी की वजह से ही मिली है। विशेषज्ञ मानते हैं कि टीके के बाद मौत की खबरें अक्सर संयोगवश होती हैं, यानी टीका लगने के समय कोई दूसरी घातक बीमारी सक्रिय हो जाती है। ग्रामीण इलाकों में आज भी स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी है। बुखार, दस्त और कुपोषण आम बात है। ऐसे में जब टीका लगने के बाद कोई बच्चा बीमार पड़ता है तो परिजन सीधा संबंध जोड़ लेते हैं। दूसरा कारण अफवाह है। सोशल मीडिया पर आधा-अधूरा वीडियो वायरल होते ही दहशत फैल जाती है। तीसरा कारण भरोसे की कमी है। कई बार स्वास्थ्य कार्यकर्ता ठीक से जानकारी नहीं देते कि टीके के बाद हल्का बुखार आ सकता है और किन परिस्थितियों में तुरंत डॉक्टर को दिखाना चाहिए।

इस पूरे मामले में सबसे जरूरी है पारदर्शिता। सरकार को हर मौत की जांच रिपोर्ट तुरंत सार्वजनिक करनी चाहिए। बैच टेस्टिंग की रिपोर्ट गांव वालों को दिखानी चाहिए, ताकि भ्रम न फैले। पोस्टमार्टम में देरी और लीपापोती के आरोप भरोसा तोड़ते हैं। साथ ही यह भी जरूरी है कि टीकाकरण से पहले बच्चों की स्क्रीनिंग हो। अगर बच्चा पहले से बीमार है, दस्त से पीड़ित है या तेज बुखार है, तो टीका कुछ दिन टाल देना चाहिए। आशा और एएनएम को इसके लिए प्रशिक्षित करना होगा।

ऐसी घटनाओं से टीकाकरण अभियान पर सीधा असर पड़ता है। लोग डर के मारे बच्चों को दवा पिलाने से मना कर देते हैं। अगर पोलियो दोबारा लौट आया तो दशकों की मेहनत बर्बाद हो जाएगी। पाकिस्तान और अफगानिस्तान में आज भी पोलियो मौजूद है और भारत में वायरस बाहर से आ सकता है। इसलिए यह जरूरी है कि एक-दो मौतों की खबर से पूरा अभियान शक के घेरे में न आए।

पहला कदम जांच में तेजी लाना है। हर मौत का ऑडिट स्वतंत्र डॉक्टरों की टीम से कराया जाए। दूसरा कदम संवाद है। गांव में स्वास्थ्य विभाग कैंप लगाए और लोगों के सवालों का जवाब दे। तीसरा कदम निगरानी है। टीके की कोल्ड चेन मेंटेन हुई या नहीं, शीशी एक्सपायर तो नहीं थी, बूंद पिलाने वाला प्रशिक्षित था या नहीं-इन सबकी जांच हो। चौथा कदम मुआवजा और संवेदना है। अगर टीके से मौत नहीं भी हुई है, तब भी मानवीय आधार पर परिवार को मदद मिलनी चाहिए, ताकि गुस्सा कम हो।

'दो बूंद जिंदगी की' का नारा तब तक सार्थक है, जब तक जनता का भरोसा कायम है। विज्ञान कहता है कि पोलियो ड्रॉप सुरक्षित है, लेकिन विज्ञान को जनता की भाषा में समझाना सरकार की जिम्मेदारी है। मौत की वजह कुछ भी हो, लेकिन हर मौत मायने रखती है। इसलिए जांच में पारदर्शिता और संवाद में निरंतरता जरूरी है। वरना डर की सुई भरोसे के टीके पर भारी पड़ जाएगी और फिर 'दो बूंद जिंदगी की' की जगह शक की खाई पैदा हो जाएगी।

अभी यह कहना जल्दबाजी होगी कि मौत पोलियो ड्रॉप से हुई है, लेकिन यह कहना जरूरी है कि हर मौत की निष्पक्ष जांच हो और रिपोर्ट सबके सामने रखी जाए। तभी 'दो बूंद जिंदगी की' फिर से जिंदगी बचाएंगी, वरना सवाल जिंदा रहेंगे और जवाब गुम हो जाएंगे।